

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३९ अंक-१८९, वर्ष-१७, जून-२०१३

कार्तिक वदि १२, बुधवार, दि.२२-११-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत-३९१
पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - १५८

अज्ञानीने अनादि कालसे अनंत ज्ञान-आनन्दादि समृद्धिसे भरे हुए निज चैतन्यमहलको ताले लगा दिये हैं और स्वयं बाहर भटकता रहता है। ज्ञान बाहरसे ढूँढता है, आनन्द बाहरसे ढूँढता है, सब कुछ बाहरसे ढूँढता है। स्वयं भगवान होने पर भी भीख माँगता रहता है।

ज्ञानीने चैतन्यमहलके ताले खोल दिये हैं। अंतरमें ज्ञान-आनन्दादिकी अखूट समृद्धि देखकर, और थोड़ी भोगकर, पहले कभी जिसका अनुभव नहीं हुआ था ऐसी विश्रान्ति उसे हो गई है ॥३९१॥



३९१, है न? ३९० हुआ। 'अज्ञानी ने अनादिकाल से अनंत ज्ञान-आनन्दादि समृद्धि से भरे हुए निज चैतन्यमहल को ताले लगा दिये हैं...' राग का कण-अंश है, 'अंश है सो मैं हूँ' इसप्रकार दृष्टि उसपर है इसलिये उसने अनन्तगुणों से भरे हुए भगवान को ताला मार रखा है। आहा..हा..! खजाने को खोला नहीं। राग का कण, उसमें भी गुण-गुणी के भेदका जो विकल्प उठता है वह भी राग है, वह वास्तवमें तो पुद्गल है। आहा..हा..! उसके साथ जिनकी एकता (है), स्वभाव त्रिकाली के साथ उसकी एकताबुद्धि नहीं हुई। ऐसे जीवने निज समृद्धि से आनंदआदि से भरे हुए चैतन्यमहल को ताला मार दिया है। आहा..हा..! ऐसी बात है।

वस्तु है पूरी पूर्णानंद व अनन्त ज्ञान आदि स्वभाव से भरी समृद्धि से, आदि शब्द है न? यानी कि अनन्त। ज्ञान-आनंद आदि यानी कि अनन्त समृद्धि से भरपूर। आहा..हा..! निज चैतन्यमहल को ऐसे लिया, ये नहीं कि, अन्य आत्मा के, भगवान के सो बात नहीं। स्वयं का निज आत्म महल। आहा..हा..! अंदर प्रवेश करना चाहिए उसके बजाय ताला मार दिया है। आहा..हा..! बहुत संक्षेप में शब्द आये हैं किन्तु एकदम मूलभूत बातें हैं।

कहा न? अभी ऐसा कागज आया है कोई अर्धमागधी का बड़ा प्रोफेसर है। यहाँ आया था, राजी हुआ, ब्राह्मिन है... नवपद तक अभ्यास किया होगा। वह ऐसे कि, यह मैंने पढ़ा है, यहाँ तक अभ्यास है न, गुरु की वाणी ऐसी होती है। आहा..हा..! वचनामृतमें तो केवल रत्न भरे हैं ऐसा लिखा है। बड़ा प्रोफेसर अर्धमागधी का। आहा..हा..! अब तो मैं अपने आत्मा को उज्ज्वल

करने के प्रयत्न मैं लगूँगा, ऐसा लिखा है।
आहा..हा.. !

यहाँ ऐसा कहते हैं, प्रभु! तेरा तत्त्व जो है उसमें न जाकर तू सर्वत्र जो तत्त्व में नहीं है ऐसे राग और पुण्य-पाप और बाह्य में एकत्वबुद्धि से स्वभाव की एकता तोड़कर राग की एकता तुने की है। आहा..हा.. ! ऐसे अनन्तानन्त गुणों से भरे भगवान को तुने ताला मार दिया, प्रभु! आहा..हा.. ! चाहे तो ग्यारह अंग का अभ्यास हो। आहा..हा.. ! ग्यारह अंग में तो अरबों के अरबों श्लोक के अभ्यासरूप ज्ञान की पर्याय हो किन्तु वह तो परलक्षी है। उसमें जो लीन है उसने चैतन्य समृद्धि को ताला मार दिया है। आहा..हा.. ! राग और परलक्षीज्ञान, उसकी जिन्हें अंतरंग में महिमा है उसने भगवान अनन्त समृद्धि से भरा प्रभु उसे मजबूत ताला मार रखा है। आहा..हा.. ! ऐसी बात है, बहुत संक्षेपमें।

‘और स्वयं बाहर भटकता रहता है’
आहा..हा.. ! यह शुभ विकल्प और यह अशुभ, यह अच्छा और यह बुरा। आहा..हा.. ! अपनी अनन्तानन्त समृद्धि से भगवान के सन्मुख न होकर उससे विमुख रहकर। आहा..हा.. ! वह शुभ-अशुभभाव में खोज रहा है, जैसे उसमें कुछ है, उसमें कुछ है। इसतरह शास्त्र का ज्ञान करके भी खोज रहा है कि इसमें कुछ है। आहा..हा.. ! वह बाहर में भटकता रहता है। भटकने का आदी हो गया है, कहते हैं।

‘ज्ञान बाहर से ढूँढता है,...’ यानी ज्ञानस्वरूपी भगवान है उसमें न जाकर ज्ञान जैसे बाहर से मिलता हो, शास्त्र पढ़ने से, सुनने से। आहा..हा.. ! भगवान की वाणी व शास्त्रों को सुनने से वह ज्ञान जैसे बाहर से प्राप्त होता हो। क्योंकि बाह्यलक्षी है न। आहा..हा.. ! ज्ञान तो इसे कहते हैं जो अंतर स्वभावमें से प्रगट हो उसे ज्ञान कहते हैं। आहा..हा.. ! ‘स्वयं बाहर में भटकता रहता

है।’ आहा..हा.. ! विकल्प की जाल में फँसकर बाहरमें अटकता है। आहा..हा.. ! महाप्रभु ज्ञान, आनंद आदि अनन्त गुणों की समृद्धि से भरा भगवान उसे तो देखता नहीं और ये बाह्यज्ञान और राग को देखता है। आहा..हा.. ! समझ में आया? मुद्दे की रकम की बात सूक्ष्म लगे, बापू! प्रभु! तू महाप्रभु है, भाई! आहा..हा.. ! ऐसी प्रभुता को तुने ताला मार रखा है। आहा.. ! और पामर सी राग व अल्प पर्याय है उसे जानने की बात को तुने महत्ता दे रखी है। आहा..हा.. !

अब वह जो बाहर भटकता है उसकी व्याख्या करते हैं। ‘ज्ञान बाहर से ढूँढता है...’ देखा? पहले साधारण दो बात की-ताला मारा और बाहर में खोजता है। अब बाहर में क्या? आहा..हा.. ! ‘ज्ञान बाहर से ढूँढता है...’ जैसे ज्यादा पढ़ें, ज्यादा सुन लूँ, जिससे कि अधिक ज्ञान मिलेगा। आहा..हा.. ! ज्ञान तो अंतर स्वभाव में है उसमें एकाग्र होनेपर जो ज्ञान आता है वह ज्ञान है। इसके बजाय बाहर से जैसे ज्ञान (होगा)। राग की मंदता करूँगा तो ज्ञान होगा। आहा..हा.. ! अक्षर के अनन्तवें भाग में निगोद के जीव को है। वह जब मनुष्य हो आहा..हा.. ! तब दिगम्बर साधु हो और ग्यारह अंग का ज्ञान हो। ऐसा ग्यारह अंग का ज्ञान वह कोई ज्ञान नहीं है। ज्ञानस्वरूपी भगवान ज्ञानका निधान जिसमें से केवलज्ञान की पर्यायें अनन्त-अनन्त निकालते रहो तो भी बंद ही न हो ऐसा ज्ञाननिधान है, इसमें से ज्ञान नहीं निकालता। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- निधान देखे तो निकाले न?

पूज्य गुरुदेवश्री :- इसीलिये कहते हैं न देखने के लिये जाओ न! यहाँ क्यों प्रमाद में पड़ा हो? इसीलिये कहते हैं। आहा..हा.. ! ज्ञान जिसकी ज्ञान की पर्याय है उसे अंतर ज्ञान की और झुका न! आहा..हा.. ! जब तो ज्ञान होगा। वरना लौकिक शिक्षा वह शिक्षा कोई ज्ञान नहीं है। आहा..हा.. !

ऐसी प्राप्त शिक्षा में भी जिसे एकत्वबुद्धि है उसने ज्ञानस्वरूपी भगवानआत्मा को ताला मार रखा है। ऐसी बात है। भाई! वहाँ 'नाईरोबी' में कहीं भी ऐसी बात नहीं है। आहा..हा..! शास्त्र रचूँ व उसे प्रगट करूँ तो मेरा ज्ञान बाहर में प्रग हो। यह एक बाह्य बुद्धि है। आहा..हा..!

'ज्ञान बाहर से ढूँढता है आनंद बाहर से ढूँढता है...' मानो जैसे कि, स्त्री में सुख है, आबरू में सुख है, पैसेमें सुख है, अरे..! अशुभभाव में सुख है और शुभभावमें सुख है ऐसा मानकर उसीमें अटकता है। आहा..हा..! दो बोल मुख्यरूप से लिये हैं। आहा..हा..! 'सब कुछ बाहर से ढूँढता है।' फिर इसकी तुलना की है। ऊपर आनन्दादि ऐसा लिया है न? आदि। आहा..हा..! 'ज्ञान बाहर से ढूँढता है...' अधिक वाचन करूँ और अधिक पठन करूँ, श्रवण करूँ ताकि मुझे ज्ञानप्राप्ति होगी। आहा..हा..! ऐसी बात है।

इसप्रकार 'आनन्द बाहर से ढूँढता है।' आहा..हा..! पैसे में सुख, स्त्री के विषय में सुख, आबरू-कीर्ति में सुख, बाहर में मेरी प्रशंसा हो तो उसमें सुख। आहा..हा..! अरर..र..! मेरी कोई प्रशंसा करे न! तो मुझे चैन मिले। आहा..हा..! 'सबकुछ बाहर से ढूँढता है।' देखा? तीनों आ गये। ज्ञान, आनन्द और दूसरा सबकुछ। आहा..हा..! सबकुछ बाहर से खोजता है। अब इन सबको एक ही वचन में कहते हैं।

'स्वयं भगवान होनेपर भी भीख माँगता रहता है।' अपने में सबकुछ होने पर भी, पूर्ण भगवान होनेपर भी बाहर से कुछ थोड़ा भी कुछ मिल जाये तो अच्छा ऐसे भिक्षा माँगता रहता है। भगवान भिक्षा माँगने को चला। आहा..हा..! भीख माँगते रहात है। 'भीख माँगता रहता है' ऐसे वचनप्रयोग किया है! भिक्षा माँगता है ऐसे नहीं। भिक्षा माँगते रहता है। जब कभी भी बाहर से भिक्षा माँगता है यह एकप्रकार से कह दिया सबको।

'भीख माँगता रहता है।' आहा..हा..! यह एक पेरोग्राफ। अब इसके प्रतिपक्षमें।

'ज्ञानी ने...' धर्मीने, सम्यग्दृष्टिने, आहा..हा..! 'चैतन्यमहल के ताले खोल दिये हैं।' अज्ञानी ने जहाँ ताला मार रखा है उसीको ज्ञानीने खोल दिया है। आहा..हा..! अनन्तगुणों का पिंड प्रभु, उसकी सन्मुखता में जो एकाग्रता हुई। आहा..हा..! वहाँ राग की एकता टूट गई और स्वभाव की एकता हुई कि, खूल गया निधान। आहा..हा..! वह भले ही अल्पमात्रा में ज्ञान हो तो भी उस ज्ञान को विज्ञान कहा है। १४वीं गाथा के अर्थ में (है)। जबकि अज्ञानी का ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान। आहा..हा..! वह अज्ञान है जबकि, धर्मीको द्रव्यस्वभाव का वस्तु स्वभाव का एकाग्रता पूर्वक जो ज्ञान हुआ है, भले ही वह अल्पमात्रा में क्यों न हो परन्तु वह विज्ञान है और चैतन्य की एकताबुद्धि के ताले खूल गये हैं। आहा..हा..! अब ऐसा उपदेश! आहा..हा..!

'अंतरमें ज्ञान-आनंदादि की...' आगे इन्हीं शब्दों का प्रयोग था न? 'अनंत ज्ञान-आनंदादि समृद्धि से भरे...' अब सूलटी बात करते हैं, 'अंतरमें ज्ञान-आनंद आदि की...' आदि मतलब सबका समावेश हो गया ऊपर जो कहा 'अखूट समृद्धि देखकर...' आहा..हा..! अजायब गुणों से भरा अजायबघर। वह आगे आ चूका है। आहा..हा..! उसे जिसने भीतर में देखा व अनुभव किया। आहा..हा..! उसे ज्ञान आदि की अखूट समृद्धि देखकर, कभी कम न हो ऐसी संपत्ति है। आहा..हा..! पूरा खजाना है। आहा..हा..!

'ज्ञान-आनंदादि (यानी की अनन्तगुणों की)अखूट समृद्धि देखकर,...' आहा..हा..! 'और थोड़ी भोगकर...' आहा..हा..! देखने-जानने में तो पूर्ण-अखूट समाधि आ गयी है किन्तु वेदन में अभी पूर्ण अखंड समाधि नहीं आयी, आहा..हा..! 'थोड़ी भोगकर...' अनंत... अनंत...

अनंत... गुणों की समृद्धि के ताले तो खूल गये किन्तु प्रगट में जो पर्याय हुई है वह तो अल्प है। त्रिकाल जो गुणों का सागर भगवान, आहा..हा..! उसमें से एक नमूना बाहर आया। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्शांति, आनंद उसे भोगकर। आहा..हा..!

‘पहले कभी जिसका अनुभव नहीं हुआ था...’ आहा..हा..! ‘पहले कभी जिसका...’ यहाँ भोगकर कहा न? अनन्त आनंदमें से थोड़ा आनंद, थोड़ा ज्ञान, थोड़ा वीर्य इत्यादि शुद्ध अनन्त गुणों को भोगकर, ‘पहले कभी जिसका अनुभव

नहीं हुआ था...’ अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्तकाल में, प्रवाहमें। आहा..हा..! ‘जिसका अनुभव नहीं हुआ था ऐसी विश्रान्ति उसे हो गई है।’ लीजिये! तुष्ट हो गया है, कहते हैं। आहा..हा..! जिसे अब बाहर से कुछ नहीं चाहिये। आहा..हा..! अंतरमें अखूट खजाना जाना, देखा, और जिसमें से आंशिक अनुभवगोचर हुआ। आहा..हा..! ‘ऐसी विश्रान्ति उसे हो गई है।’ लीजिये। यह एक पेराम्राफ चला। ३९१। आहा..हा..!

(‘अनुभव संजीवनी’ ग्रंथमें से कुछएक वचनामृत)



जिस स्वसन्मुख भावमें आत्मस्वरूप प्रगट - सहजप्रत्यक्षरूप है, उस भावमें प्रत्यक्षता सहित (के साथ) अभेदता सधती है; अतः उस भावमें परोक्षताका सहज अभाव होता है; अर्थात् वहाँ अद्वैतभावसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्षता वर्तती है; अतः भावमें निजरस - आत्मरस उत्पन्न होता है। अहो ! अनंत शांत सुधा सागरका परम आदरभाव - वही महा विवेक है - परमपदका विवेक / आदर होनेमें अन्य विकल्प कैसा ?

परमात्मपद प्रतिके उल्लसित वीर्यसे दर्शन शुद्धि है अथवा सर्व सिद्धि है। (१११)



कारण शुद्ध पर्यायका स्वरूप :-

(१) प्रत्येक वर्तमानमें कार्य-शुद्ध पर्यायके कारणरूपसे तैयार-मौजूद ऐसा अनंतगुणोंके अभेदभावका ‘स्वाकार भावरूप’ ध्रुवत्व, वह कारण शुद्ध पर्याय है। जो कि द्रव्यके अनंत सामर्थ्यको प्रसिद्ध करती है। वह इस तरह :- जिस ध्रुवके वर्तमानका अवलंबन लेने पर यदि केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्धता प्रगट होवे तो द्रव्यका त्रिकाल सामर्थ्य कितना अनंत व गंभीर!!

(२) समुद्रके पानीमें ऊपरका तरंगवाली सपाटीका अस्थिर दल पूरा होनेके बाद नीचे स्थिर दल शुरू होता है। उस स्थिर दलकी ऊपरकी सपाटीके दृष्टांतसे, पर्यायके उत्पाद-व्ययसे पार गहराईमें - अंतरमें अन्वयरूप वर्तमान ध्रुवत्वका अवलोकन करना, अवलंबन लेना।

(३) जीवके त्रिकाली स्वरूपमें केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्ध पर्यायोंके कारणरूप त्रिकाल रही हुई पर्यायपरिणमन शक्तिका वर्तमान - वह कारणशुद्ध पर्याय है।

श्रीमद् पद्मप्रभमलधारी देवने उसे पूजित पंचमभाव परिणति कहा है / समादर किया है। (११२)



सविकल्पदशामें, जिस वक्त निज अभेद निर्विकल्प चैतन्य स्वरूपका ‘यथार्थ निर्णय’ होता है, तब निर्विकल्प स्वरूपकी अत्यंत मुख्यता वर्तती है इसलिये उस जीवका निर्विकल्पदशाका काल पक गया है। क्योंकि अब वह जीव विकल्पमें अटकेगा नहीं, उसको विकल्पकी मुख्यता नहीं रहेगी; अब वह शीघ्र विकल्पका वमन कर देगा अथवा उसके विकल्पका अब शीघ्र वमन हो जायेगा। जिसने निर्विकल्प शुद्धात्माका भावनामें व ज्ञानलक्षणसे ज्ञानमें यथार्थ निर्णय किया, उसको निर्विकल्पताका अवसर आ चुका है। (११३)





पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा
श्रीमद् राजचंद्र पत्रांश-१६६ का प्रथम वचनामृत
पर हुआ भाववाही प्रवचन, दि.२४-७-१९९८

मायिक सुखखी सर्व प्रकारकी वांछा चाहे जब भी छोड़े बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है, तो सबसे इस वाक्यका श्रवण किया, तभीसे उस क्रमका अभ्यास करना योग्य ही है, ऐसा समझें।

पहला वचन है - १. 'मायिक सुख की सर्व प्रकार की वांछा चाहे जब भी छोड़े बिना छुटकारा होनेवाला नहीं है,...' यह सिद्धांत (कह दिया)। मायिक सुख माने क्या? कि जो सुख नहीं है लेकिन सुख लगता है, उसको मायावी सुख कहते हैं, मायिक सुख कहते हैं। यानी जीव सुख समझकर धोखा खाता है। उसको कहते हैं- मायिक सुख। भ्रम होता है।

प्रश्न :- दृष्टांतरूप से?

समाधान :- बस! पंचेन्द्रिय के विषय। दृष्टांतरूप से पंचेन्द्रिय के विषय। पाँचइन्द्रिय के विषयों की जीव को इच्छा होती है। अच्छा स्वाद लेना, अच्छा देखना, अच्छी सुगंध सूँघने का, अच्छा संगीत-कर्णप्रिय आवाज सुनना, व मन चाहा स्पर्श करना। ऐसी जो इच्छा होती है वह सुखबुद्धि के कारण होती है। इसके पीछे अभिप्राय क्या है? कि, मुझे इससे सुख मिलता है। वास्तवमें किसीको सुख मिला नहीं, मिलता भी नहीं और मिलनेवाला है भी नहीं। क्यों? कि अगर सुख मिलता तो इससे तृप्ति होनी चाहिए थी। परंतु किसीको तृप्ति नहीं होती। अतृप्तदशा में माने हुए सुख का सब त्याग करते हैं। क्या करते हैं? अतृप्तदशा में जगत के सर्व प्राणी अपने माने हुए सुख का त्याग

करते हैं। खाते-खाते खाने का त्याग, सुनते-सुनते सुनने का त्याग करते हैं कि नहीं? सोते-सोते सोने का त्याग करते हैं, आराम करते-करते आराम का त्याग करते हैं कि नहीं? अगर वास्तव में सुख होता तो क्यों छोड़ते? बढ़ाते ही जाये...! बढ़ाते ही जाये...! जैसे जिस Business में (धंधेमें) मुनाफा हो उस Business को आदमी बढ़ाता ही है कि नहीं? फिर सुख हो ऐसी प्रवृत्ति को बढ़ायेगा या कम करेगा? तो यहाँ तो बढ़ाने के बजाय बंद करता है! तो इसका यह स्पष्ट सबूत है कि सुख वहाँ नहीं था अपितु धोखेबाजी (हो जाती है)। भ्रम से सुख लगा उसे मायिक सुख या मायावी सुख कहते हैं।

वह सुख, सुख नहीं है, ऐसी ज्ञान की स्पष्टतापूर्वक (मायिक सुख का अभिप्राय) छोड़ने पर छुटकारा होता है। यानी कि जीव के जन्म-मरण के, परिभ्रमण के सर्व दुःखों के कारणों का नाश होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जब से यह सिद्धांत सुना तब से, ऐसा कहते हैं। 'जब से इस वाक्य का श्रवण किया, तभी से उस क्रम का अभ्यास करना योग्य ही है, ऐसा समझें।' इस 'क्रम' का अभ्यास करना चाहिए। क्या कहा? यूँ ही छोड़ दिया ऐसे नहीं

कि, चलो ! हमको तो अब सन्यास लेना है। त्याग करके चले जाना है, घर छोड़ देना है ऐसे नहीं। क्रम से Practice (अभ्यास) करना है कि वह कैसे छूटे ?

प्रश्न :- भाईश्री ! जब पदार्थ को छोड़ते हैं, उस समय तो अनुभव में वह दुःख लगता है तभी छोड़ते हैं। जैसे एक रसगुल्ला खाते हैं (फिर) पाँच रसगुल्ले खाते हैं तो उस समय में अनुभव में तो दुःख लगता है। तो वह जो दुःख का अनुभव हुआ उसके बाद भी पदार्थ के प्रति जो सुखबुद्धि रह जाती है, उस सुख का क्या हुआ ?

समाधान :- उसका कारण यह है कि, जो सुखाभास में - उसमें सुख का Concept-misconcept जो है, वह वैसा का वैसा रह गया। उसमें कोई फर्क नहीं किया। और हमारी बुद्धिमानी वहाँ धोखा खाती है, कि जब हमको छोड़ना पड़ा फिर हमने सुख माना कैसे ? हम क्यों इस पर विचार नहीं करते ? इसकी गहराई में क्यों नहीं जाते ? कोई नहीं जाता, विषय बदल देते हैं। जैसे सोते-सोते थक गया तो बैठ जाएगा, बैठे-बैठे थक गया तो सो जायेगा। दोनों में थक गया तो चलेगा (चलने लगेगा)। चलते-चलते थक जायेगा तो आराम करेगा। लेकिन तीनोंमें से एक भी अवस्था में सुख नहीं है, इसका विचार कौन करता है ? जगत में इसका विचार कोई नहीं करते, इसलिए इसका Solution (समाधान) नहीं मिलता और Problem (समस्या) ज्यों का त्यों खड़ा रहता है।

वह 'Science & Religion' ('विज्ञान और धर्म') Article (लेख) है न ! उसमें हमने एक बात लिखी है कि, जगत में किसी भी मनुष्य को रोग होता है और दवाई असर नहीं करती है तो आदमी दवाई बदलता है। दवाई बदलने के बावजूद भी ठीक नहीं हो तो आदमी डाक्टर भी बदल देता है। यहाँ ऐसा नहीं करता। यहाँ सुख

नहीं मिलता है फिर भी सुख लेने का जो प्रकार है, जो विधि है, जो रीत है, वह रीत जीव बदलता नहीं है, कि मेरी (सुख प्राप्त करने की) रीत में ही कोई भूल चलती है, ऐसा विचार तक नहीं करता। वारंवार उसी रीत को लागू करता है। फिर से वही रीत को लागू करता है, वापिस तब भी उसे सुख नहीं मिलता है, फिर भी उसी प्रयत्न को चालू रखता है। इसमें विचारशीलता-बुद्धिमानी कहाँ की ?!

(यह) सोचना चाहिए कि मेरी गलती हो रही है, मेरी कहीं भूल हो रही है, मुझे सोचना चाहिए। (लेकिन) नहीं सोचता है। तीव्र बुद्धिशाली लोग भी नहीं सोचते हैं। यह एक Tragedy है संसार की। इसलिए जीव का-लोगों का संसार नहीं छूटता है, इसका यही कारण है। सही दिशा में कोई विचार नहीं करते। यह बात वहाँ (लेख में) उठाई है।

इसका एक कारण यह है कि, मैं भवरोग से ग्रसित हूँ, ऐसा भी Concept नहीं है। जैसे मनुष्यभ्रम मिला तो बहुत अच्छा मिला, अब मनुष्यदेह को छोड़ना ही नहीं है। ऐसे ही विष्टा का कीड़ा हुआ तो उसको वहाँ अपना भव नहीं छोड़ना है!! जिस भव में जीव जन्म धारण करता है, वहाँ की उस दशा को, उस अवस्था को, उस हालत को, उस पर्याय को, वह छोड़ना नहीं चाहता। पर्यायबुद्धि इतनी (दृढ़) है। पर्याय की इतनी रुचि है। इतनी ही जीव को वर्तमान अवस्था की रुचि है। उसीको पर्यायदृष्टि कहते हैं। उसे अज्ञानदृष्टि कहते हैं। इसलिए उसे विचार ही नहीं आता। सुख का Problem Solve (समस्या का समाधान) नहीं होता है और बार-बार दुःखी होता है फिर भी, जीव सच्ची दिशा में विचार नहीं करता है।

ये तो जो-जो महात्माएँ सुखी हुए, जो-जो ज्ञानी सुखी हुए, जो-जो भगवंत सुखी हुए - उन

भगवंतो की कही हुई बातें हैं। अगर मायिक सुख की सर्व प्रकार की वांछ-वांछ माने इच्छा, चाहे कभी भी छोड़े बिना छुटकारा नहीं है; यह सैद्धांतिक बात है तो फिर उसे छोड़ने के लिए यथार्थ समझ करके यथाक्रम अनुसार वांछ छोड़ने की बात करते हैं, पदार्थ तो भिन्न ही है। पदार्थ आत्मा में नहीं आता। कोई एक जीव में कोई एक परमाणु की मिलावट नहीं होती। चाहे कितना भी पानी पी ले फिर भी पानी का एक बिंदु आत्मा में नहीं आता। चाहे कितनी भी खुराक खा ले फिर भी खुराक का एक भी परमाणु जीव में नहीं आता। और चाहे जैसे अच्छे रंग-वर्ण देखने से आँख में कोई रंग नहीं आता (सिर्फ) प्रतिबिंब आता है। और कान से चाहे कितना भी संगीत सुन ले आत्मा में संगीत की सुरावली का प्रवेश नहीं होता। आत्मा को कुछ नहीं मिलता। नहीं मिलने के बावजूद भी मिलता है ऐसा Mis-concept झूठा निश्चय-यह दुःख का कारण है।

जीव को दुःख क्यों उत्पन्न होता है? इसके Causative factors कौन से हैं? उसके क्या-क्या कारण है? इसकी गहराई से जाँच होनी चाहिए। निदान अगर बराबर होगा तो उसका इलाज बराबर होगा। जीव को 'दुःख' नाम का रोग (हुआ) है। उसे मिटाने की यह बात है। तो उन्होंने (ज्ञानीपुरुषों ने) कहा कि, तू उस विषय की गहराई में जा!

वैसे तो डाक्टरी विज्ञान, वैद्यकीय विज्ञान, होमियोपैथी, आयुर्वेद-ये सब स्पष्ट कहते हैं कि, 'भोगे रोग भयं' भर्तृहरी के श्लोक में (आता है)। पंचेन्द्रिय के विषयभूत जितने भोग-उपभोग हैं वे सारे रोग के कारण हैं। होमियोपैथी में तो यह नींव का सिद्धांत ही है कि अगर आप रसपूर्वक भोजन करेंगे तो वही आपके रोग का कारण होगा। यह बात अध्यात्म से मिलती-जुलती है। यदि आप खाते वक्त रसपूर्वक खायेंगे कि मुझे बहुत भाता है, तो उसी वक्त अशातावेदनीय नाम का कर्मबंध

होगा और उसका जब उदय आयेगा तब कोई न कोई रोग उत्पन्न होगा, होगा और होगा ही। (यानी) उसकी पीड़ा आपको भोगनी (ही) पड़ेगी। क्योंकि खाते वक्त रस लिया है इसलिए रोग के वक्त दुःख लगे बिना रहेगा नहीं। शरीर को आप तंदुरस्त रखना चाहते हो परंतु शरीर तंदुरस्त नहीं रहेगा। नहीं रहने का कारण भी आप खुद हो कि आपने रसपूर्वक जो खाया। अतः इस विषय का जो Science है - जो विज्ञान है, इससे अनभिज्ञ होने से, इस विषय में स्वयं अज्ञान होने से चाहे कैसे भी प्रवर्तता है और दुःखी होता है।

इसलिए ऐसा कहा कि जब से यह बात सुनी है तब से ही इच्छा का अभाव कैसे हो? और आत्मा का जो मूल स्वरूप है-असल स्वरूप है, तात्त्विक स्वरूप है जो निरिच्छक स्वभाव है, वह कैसे प्रगट हो? किस क्रम से उसमें आगे बढ़ा जाये? अर्थात् योजनाबद्धरूपसे-व्यवस्थितरूप से उसमें, उस दिशा में कैसे आगे बढ़ना, उसकी Practice-उसका अभ्यास करना चाहिए। और वैसा अभ्यास करना योग्य ही है ऐसा समझना। पहले ऐसे समझना फिर उसकी Practice करना। यह पहला वचन हुआ।

अब, यह मोक्ष का कारण भी है कि नहीं? (यह समझें)। मायिक सुख को सच्चा सुख मानना यह बंध का कारण है, कर्मबंधन का कारण है। उसे सच्चा सुख मानने से इसके फल भोगने पड़ेंगे। (अब) वह सुख सच्चा नहीं है-ऐसा मानने से उस विषय का प्रतिबंध अटक जाएगा। सुख नहीं लगेगा तो आप मुक्त हो जायेंगे। बात तो पूरी हो गई। प्रतिबंध नहीं रहेगा (यानी कि) वह चाहिए ही चाहिए, ऐसी बात नहीं रहेगी। उसके बिना नहीं चलेगा, यह बात नहीं रहेगी। क्योंकि (उसमें) सुख नहीं है। सुख तो नहीं अपितु वह दुःख का कारण है। ऐसे आपका ज्ञान काम करेगा। अतः उदासीनता आये बिना नहीं रहेगी।

मुमुक्षु :- लगना और अभिप्राय होना, उसे सीधा संबंध है? यह जो लगना होता है, ऐसा जो मिथ्या अनुभव है-उसको और अभिप्राय को सीधा संबंध है?

पूज्य भाईश्री :- उससे (लगने से) अभिप्राय बँधता है। Feeling है वह एक अनुभव है। और अनुभवज्ञान एक निश्चय पर आता है, जिसका नाम है अभिप्राय। अभिप्राय कोई विचार से घडते हैं तो कोई अनुभव से घडते हैं। अनुभव से जो घडता है वह इतना दृढ होता है कि छूटता नहीं। विचार से निश्चित किया हुआ अभिप्राय छूट जाता है। अनुभव से निश्चित हुआ अभिप्राय छूटता नहीं। फिर चाहे सुलटा हो या उलटा। दोनों में यह सिद्धांत लागू होता है। उलटा अभिप्राय विचारपूर्वक हो तो उसे भी छूटने में देर नहीं लगती। सुलटा अभिप्राय भी विचारपूर्वक हो तो उसे छूटने में देर नहीं लगती। जब कि दोनों में अगर अनुभव होता है तो उसमें दृढता आ जाती है। फिर सुखाभास के कारण उलटा अभिप्राय हो तो उसे छड़ना भी मुश्किल पड़ता है - छूटना मुश्किल है। और सही ज्ञान व सुलटे अनुभव सहित अभिप्राय हो तो वह Everlasting (कायम के लिए) रहता है। वह तो कभी नहीं छूटता ऐसा विषय है।

प्रश्न :- जिस भाव में आकुलता है वह भाव आकुलतारूप लगे वहाँ सुख का निश्चय होता ही नहीं है, ऐसा बनता है?

समाधान :- हाँ, वहाँ सुख का अभिप्राय छूट जाएगा। सुख का अभिप्राय अनादि से है, आकुलित भावों में भी सुख का अभिप्राय अनादि से है। जीव का Mis-concept जो है वह अनादि से है। परंतु यदि उसमें आकुलता लगेगी तो वह अभिप्राय बदल जाएगा। इसलिए हमलोग लेते हैं न कि सभी विभाव में-विकल्पमात्र में दुःख लगना चाहिए। जब ज्ञानी के वचन में यह बात है कि

विकल्पमात्र में दुःख लगना चाहिए, तब सर्व प्रथम ऐसा विचार आना चाहिए कि, मुझे तो ऐसा नहीं लगता है! मुझे कुछएक विकल्प सुहाते हैं और (उसमें) सुख लगता है। किसी में तीव्र आकुलता होती है तब दुःख लगता है। जैसे कभी तीव्र क्रोध आया, कोई तीव्र उलझन में आ गये तब दुःख लगता है। (परंतु) ज्ञानी इसका स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं कि, विकल्पमात्र में दुःख लगना चाहिए। तब इस वचन के स्वीकार हेतु अपने प्रत्येक विकल्प का अवलोकन शुरू होना चाहिए। यहाँ मेरी कैसे भूल हो रही है? यह मेरी अनुभव की भूल है। विकल्प में मुझे जो सुख लगता है, जो भी विकल्प में (सुख लगता है) वह मेरी अनुभव की भूल है। यह अनुभव की भूल जब तक नहीं निकलेगी तब तक सुखबुद्धि नहीं मिटेगी, ऐसा है।

प्रश्न :- इसका उपाय तो यही है कि भीतर में जाँच करें।

समाधान :- अवलोकन के Stage (भूमिका) तक आना चाहिए। जब कि सीधा कोई अवलोकन के Stage तक आ नहीं सकता, तब उलझन पैदा होगी। वह उलझन यदि वेदना को ले आये तब तो उसे सच्ची माने, वेदना को नहीं ले आये तो झूठी है। ऊपर-ऊपर से होनेवाली उलझन (वेदना को नहीं लाती) ऐसा है।

प्रश्न :- भाईश्री! अनुभव की भूल से जो अभिप्राय बना हुआ है, अनुभव से जो दृढ निश्चय हुआ उससे उलटा अभिप्राय तो बन गया। अब उसे मिटाने में विचार तो निष्फल गया तो फिर अनुभव से Check (जाँच) करके ही उसे तोड़ सकेगा न?

समाधान :- अनुभव की जाँच करने पर ही मिटेगा, इसके बिना मिटेगा नहीं। अब होता है क्या? कि जिस अनुभव में रस आता हो तब जाँच करनेवाला ज्ञान तो रहता नहीं। उसमें तो

आपके Mis-concept के कारण रस आ गया। फिर उस वक्त आपका ज्ञान जाँच करने का कार्य तो कर पायेगा नहीं। अब आप क्या करेंगे? आपने समझ तो लिया कि अनुभव की भूल अनुभव की जाँच करने से छूटेगी। परंतु जब अनुभव की जाँच करने का प्रसंग आयेगा उसी वक्त आप जाँच नहीं कर सकेंगे—ऐसी स्थिति में होंगे, तब क्या होगा? आपको रस आया फिर तो आप जाँच करने की स्थिति में होंगे नहीं, आप करेंगे क्या? उस भूल को कैसे मिटाओगे? उस भूल को मिटाने की आपकी परिस्थिति तो है नहीं! समझ लो चाहे कितना भी, समझना एकबात है, काम करना दूसरी बात है। इसलिए इसकी पूरी योजना बनायी है। उस योजनाबद्धरूप से—व्यवस्थितरूप से काम करोगे, तो काम का उकेल आयेगा। ‘उभांगड़े’ काम करोगे, तो काम कभी सफल नहीं होगा।

‘उभांगड़े’ समझ में आता है? नहीं समझते? गुजराती भाषा थोड़ी ऐसी आती है। माने Hafazard- (यानी कि) आप कोई Management की जो पद्धति है उससे अपने काम को Manage (नियंत्रित) करो तो काम सफल होता है। Without management-Hafazard जैसे(कैसे) कोई-कोई भी काम कर लिया-कोई व्यवस्था बिना ही-(तो) कैसे काम सफल होगा? काम तो काम की रीत से होगा।

जैसे Account है। अब कोई आदमी ऐसा है जिसको Account का System (रीत) मालूम नहीं है। वह Account लिखने बैठेगा तो उसकी दिक्कत बढ़ जाएगी। कोई Account की व्यवस्था तो नहीं बैठेगी लेकिन वह इतनी उलझन में आ जाएगा कि उसे निकलने में तकलीफ हो जाएगी।

हमारे साथ एक बार ऐसा हुआ था। मंदिर में प्रतिष्ठा पूरी होने के पश्चात् एक भाई ने कहा कि, लाईये! सब मुझे दे दो। मैं Account तैयार कर दूँ। उसको Account आता नहीं था। इतना

घोटाला किया कि खुद उलझन में आ गया। (कहने लगा कि) इसमें मुझे कुछ सूझता नहीं है। हमने उसको कहा, आपको Account आता नहीं है, यह आपके बस का काम नहीं है। इसमें बहुत सारी चीज-वस्तुओं की खरीद की हो इसलिए ढेर सारे बिल इकट्ठे होते हैं। ढेर सारे (बिल होते हैं)। इसमें कोई बिल Unpaid (बिना चुकाया) हो, कोई Paid हो, कोई Semi-Paid (आधा चुकाया-आधा बाकी) हो, ऐसे में यदि Account की व्यवस्था मालूम न हो तो तीनों को कैसे व्यवस्थित करना, यह समझ में ही नहीं आयेगा, कुछ कर नहीं पाएगा। उलटा उलझन में आ जाएगा। उलझेगा तो ऐसा कि उसने किया होगा उसमें तो कोई बात काम नहीं आएगी, जिसको Account आता होगा उसको तो पहले से वापिस शुरू करना पड़ेगा। क्योंकि उसने तो सब उलट-सुलट कर दिया होगा। सूत में जैसे गुथी हो जाती है, ऐसा होगा। दिक्कत बढ़ जाएगी। सूत की डोरी को खोलना नहीं आता हो और गुथी हो जाये तो बाद में तो दिक्कत और भी बढ़ जाती है। वैसी बात है। समझ का विषय ऐसा है।

यदि आपकी समझ व्यवस्थित नहीं होगी तो आप और भी दिक्कत में आ जाओगे। अव्यवस्थित समझ के कारण (ऐसा होगा)। इसलिए यहाँ ऐसा कहा कि ‘क्रम का अभ्यास करना।’ ऐसे ही वस्तु का त्याग नहीं करना है। यूँ ही छोड़ देने की बात नहीं है।

एक दृष्टांत लेते हैं। एक आदमी को मिठाई बहुत भाती है। अब उसने सुना कि मिठाई नहीं खानी चाहिए (क्योंकि रस आ जाता है)। और रस का तो त्याग करना चाहिए। मुझे जो रस आता है उसे छोड़ देना चाहिए। अब (उसने मिठाई छोड़ दी। जब कि खाने का रस और अभिप्राय तो यूँ का यूँ ही है और वृत्ति का दमन कर

लिया, परंतु इससे कोई फायदा नहीं होता। वह दबी हुई वृत्ति कभी भी उछल पड़ेगी। रोग को यदि मूल से नहीं मिटाया (और) सिर्फ ऊपर-ऊपर से पट्टी बाँध दी तो भीतर में तो खराबी भरी ही है। दूसरी जगह गड़बड़ी होगी, ऐसी बात है।

प्रश्न :- यह तो दृष्टांत दिया, अगर त्याग नहीं करना है तो समझ कैसी होनी चाहिए ?

समाधान :- रस का त्याग होना चाहिए। रस कैसे टूटे ? इसकी समझ करके उसका प्रयोग करना चाहिए। पहले रस तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए, वस्तु के त्याग का नहीं। वस्तु का त्याग करने से रस नहीं टूटता। रस कैसे टूटे ? उदासीनता कैसे आये ? उसका क्रम क्या ? इसकी समझ क्या ? पहले उस दिशा में जाना चाहिए। उस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिए, ऐसा (कहना चाहते हैं)। और इसके लिए तो हमने क्रम बिठाया है। पहले परिभ्रमण की वेदना में आईये तो उदासीनता में स्वतः आयेगे। वहाँ से सभी रस टूटने शुरू होते हैं। इसके बिना यथार्थरूप से उदासीनता नहीं

आयेगी। यथार्थ प्रकार से अगर उदासीनता नहीं आयी तो कोई रस फीके नहीं होंगे। सारे के सारे यूँ ही रहेंगे। भले चाहे कितना भी त्याग कर ले (इससे कोई रस नहीं टूटेगा)।

प्रश्न :- उस रस में परिभ्रमण दिखना चाहिए ?

समाधान :- हाँ, परिभ्रमण दिखना चाहिए। एक मृत्यु को आप नहीं चाहते, आपकी मृत्यु तो नहीं-आपके प्रियजन की मृत्यु भी आप नहीं चाहते हो, तो आपकी अपनी मृत्यु को तो कैसे चाहोगे ? तो ऐसे अनंत जन्म-मरण की तलवार सर पर लटक रही है, इस Problem की चिंता आपको क्यों नहीं होती है ? यहाँ से (इस चिंता से) शुरुआत होनी चाहिए। जब तक अनंत जन्म-मरण व परिभ्रमण में होनेवाले चार गति के दुःखों की चिंता नहीं होगी तब तक यथार्थ उदासीनता पूर्वक कोई भी रस वृत्ति में फीकापन-न्यूनता नहीं आयेगी। रस के अभाव की बात तो अभी दूर है, परंतु पहले फीका तो पड़े ! वहाँ से शुरुआत इसलिए ली है।

पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी का जन्मजयंति महोत्सव आनंदउल्लासपूर्वक संपन्न

भावी तिर्थाधिनाथ पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके महापुराण के पात्र पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानी का १०२ वां जन्ममहोत्सव दि.१९-५-१३ से २१-५-२०१३ पर्यंत सुवर्णपुरी तीर्थधामस्थित 'गुरु-गौरव' स्मारक भवन में अत्यंत आनंदपूर्वक मनाया गया। इस प्रसंग पर बहारगांव से अनेक मुमुक्षु भाई-बहनने पधार कर त्रीदिवसीय धार्मिक कार्यक्रम का लाभ लिया।

दि.२१-५-२०१३ के दिन पारणाञ्जुलन, जन्म वधामणा, भक्ति आदि कार्यक्रम हुए।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जून-२०१३) का शुल्क दमयंतीबहन लक्ष्मीचंद जैन, (०९३२२२६२४७०) के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनामृत

महा आनंदकंदसे - निज स्वरूपसे दूसरा क्या अधिक है ? कि जिसको छोड़कर तू अन्यका ध्यावन करता है ? (अनुभव प्रकाश) (८६)



जीव व्यर्थ ही पर चीजको अपनी मान मानकर झूठी होंश करता है-पुद्गलका रस लेता है, परको मुख्य करता है। भ्रमणासे झूठी कल्पनामें रत होकर खुशी होता है। तब वहाँ स्वरूपकी सावधानीका अंश भी नहीं है। खुद तीनलोकका नाथ होने पर भी नीच पदमें स्व-पना मानकर व्याकुल हो रहा है। ऐसी स्थितिमें चैतन्यरस उत्पन्न नहीं हो सकता। (श्री अनुभव प्रकाश) (८७)



व्यवसाय आदिमें जुड़ना पड़ता हो, तब उसमें उत्साह / रस नहीं बढे ऐसी जागृति / सावधानी रहनी आवश्यक है। जिससे कि निवृत्तिकालमें उस उदयभावका रस आड़े नहीं आये। (८८)



आत्मार्थी जीवको जो कुछ भी करना है 'वह सबकुछ आत्मार्थके लिये ही करना है'- ऐसी बुद्धि (अभिप्राय) पूर्वक उसकी सब प्रवृत्ति होती हैं। उक्त अभिप्रायकी दृढताके कारण अंतरलक्षमें निजहितकी जागृति विशेषरूपसे उत्पन्न होती है। अतः परभावकी भिन्नताका कार्य सावधानीपूर्वक होनेमें यहाँ अंदरमें सुगमता होती है। ऐसी भावभूमिकामें संशोधक जीव 'स्वरूप निर्णय' करता है। संसारी जीव सभी उदयमें अनुकूलता - प्रतिकूलताको मुख्यता देकर वेदनमें उलझे हुए पड़े हैं। आत्मार्थी जीव उदयमें इष्ट-अनिष्टपनेसे निवर्तता हुआ अर्थात् निवर्तनके पुरुषार्थमें लगा हुआ है, निजहितकी अपूर्व लगनसे लगा हुआ है, उसका निजहित अवश्य होगा ही। (८९)



परपदार्थमें सुखके अनुभवको 'भ्रांति' जानना, उस भ्रांतिरूप दशाको रोग-महारोग जानना। (९०)



दुःख - वह कल्पनामेंसे उत्पन्न हुआ भाव है। वस्तुके स्वरूपज्ञानके आधारसे दुःखकी उत्पत्ति नहीं होती, पुनः निज स्वरूपमें तो दुःख है ही नहीं-वह तो अनंत आनंदमय है। लेकिन जीव आनंदमय ऐसे स्वस्वरूपके विस्मरणके कारण, बेभानपनेके कारण-कोई न कोई प्रकारसे कल्पनामें घिरा हुआ दुःखका अनुभव करता है। अर्थात् भ्रमसे स्वयंको दुःखी मानकर दुःखका अनुभव करता है। (९१)



स्वभावसे मैं पूर्ण निर्दोष / परम पवित्र हूँ, अंशमात्र दोष होनेका अवकाश मेरेमें नहीं है-इस प्रकारके निजावलोकनमें - पर्यायमें विकारांश होने पर भी (अंतर्मुखताके ध्येयमें) विकार करनेका या टालनेका अभिप्राय नहीं रहता, फिर भी टलता हुआ विकार ज्ञानमें परज्ञेयरूप प्रतिभासित होता है। (९२)



अन्य जीव और पुद्गलकी चित्र-विचित्र अवस्थाका निमित्त पाकर जगतमें जीव राग-द्वेष / इष्ट-अनिष्ट भाव करते हैं। जब कि सम्यक्ज्ञानमें अंतर्मुखका ध्येय - द्रव्यदृष्टि वर्तती होनेसे, उन-उन परद्रव्यकी पर्याय मात्र ज्ञेयरूप प्रतिभासित होती है। ज्ञान तटस्थ - ज्ञाता भावसे रहता है। ध्येयकी अर्थात् ध्रुव स्वरूपकी मुख्यता रहती है, इसलिये अन्य ज्ञेय गौणरूपसे भासित होते हैं। यह वीतरागी ज्ञानकला है - अबंध परिणाम हैं, परिणाममें ऐसी चाल होना / ढलन होना-परिणमनशीलता होना, ऐसा ही जिसका मूल स्वभाव है। ऐसे गुण निधान महा पवित्र निज आत्मदेवको अभेद भक्तिसे नमस्कार!! (९३)

साधकदशामें 'स्वभाव अत्यंत (सर्वथा) उपादेय'- ऐसा भाव वर्तता है । त्रिकालीकी उपादेयतामें / मुख्यतामें पर्यायकी गौणता सहजरूपसे रहती है। अतः पर्यायमें विकारांश जो है (उसको टालना है फिर भी) उसकी आकुलता / मुख्यता नहीं होती - परन्तु अंतर्मुखके वेगमें विकार अपने आप टलता जाता है - ऐसा ज्ञान रहता है - इस प्रकारसे कार्यसिद्धि है। (९४)



स्वपदका परमेश्वररूप (अंतर्मुख होकर) अवलोकनमें लेनेसे वर्तमानमें ही स्वयं परमेश्वररूप है। अहो! अवलोकनमात्रसे परमेश्वर (हुआ जाता है) होता है, ऐसी अवलोकना न करे तो, अपना निधान खुद ही लूटाकर - दरिद्री होकर भटकता है - और भव विपत्तिको मोल लेता है। (अनुभव प्रकाश)

स्वानुभवमें 'स्वयं शाश्वत परमात्मा है' ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तब मैं राग और संयोगके आधारसे जीनेवाला हूँ - ऐसी भ्रांति मिट जाती है - भाव दरिद्रीपना मिट जाता है, चारों गतिमें भटकना मिट जाता है। चारों गतिके दुःख / विपत्तियाँ सिर्फ अज्ञानभावसे मोल लेता था - वह छूट जाता है। (९५)



उदयमें सावधानी जीवको बहिर्मुख होनेका कारण है। - आत्मस्वभावकी सावधानी जीवको अंतर्मुख होनेका कारण है। - अर्थात् उदयमें सावधानी रहनेके कारण स्वमें एकत्व नहीं हो सकता और जो स्वमें सावधान है, उसको परमें एकत्व नहीं होता। (९६)



सत्श्रुत (श्रवण) होने पर भी अगर उदयकालमें सावधानीमें फर्क नहीं पड़ा - तो श्रवण हुआ ही नहीं है। भावपूर्वक श्रुत (श्रवण)से परकी सावधानीमें फर्क पड़ता ही है, सावधानी कम होती ही है - ऐसे भावसे श्रवण किये बिना आत्मभावका, स्वरूपलक्ष्यपूर्वक स्वरससे घोलन नहीं होता, अतः मुमुक्षुजीवको आत्मप्राप्ति-सत्की प्राप्तिकी इच्छा होने पर भी सफल नहीं होती। यह वारंवार विचारने - अवगाहन करने योग्य है, जिससे आत्मार्थता उत्पन्न हो। (९६-A)



आत्मार्थी जीवका जीवन / परिणमन 'आत्मलक्ष्य'पूर्वक होता है; अतः चलते परिणमनमें इष्ट - अनिष्टपना होनेसे उसमें (स्वयंका) विभावरस उत्पन्न होता है जिसका अवलोकन - सूक्ष्म अवलोकन उसको रहता है - इस अवलोकनके कारण कषायरसकी मात्रा बढ़ नहीं सकती, बल्कि घटती जाती है । अर्थात् कषायरस मंद होता जाता है। जब आत्मलक्ष्यसे विभावरस गलता है तब समकितकी पूर्व भूमिका तैयार होती है जिसमें दर्शनमोह मंद होता है। ज्ञान भी स्वरूपकी पहचान कर सके उतना निर्मल होता है, धीरा व गंभीर होता है, और स्वभावकी जागृति उत्पन्न होती है । तद्उपरान्त अध्यात्मके सम्यक् न्यायमें रस / रुचि वृद्धिगत होते हैं। और अनंत नय (न्याय)के अधिष्ठाता ऐसे स्व-द्रव्यका ग्रहण सुलभ होता है।

जो शास्त्रोंका पठन करने पर भी, आत्मार्थी नहीं है, उसको परिणमनमें विपरीतताका वेग बहुत है । उसका दर्शनमोह बलवान है। और ज्ञानका क्षयोपशम बहुत होनेके बावजूद भी उसका ज्ञान स्थूल है। अतः वह चलते हुए परिणमनमें कषायरसका अवलोकन करनेके लिये समर्थ नहीं है -जागृत भी नहीं है। जब कि मूलमें वहाँ आत्मलक्ष्य नहीं है। अतः ऐसा फलित होता है कि स्वरूपलक्षी यथार्थ पुरुषार्थमें विभावरस - अवरोधक तत्त्व होनेसे उसका जानना - अवलोकन होना आवश्यक है।

यहाँ जागृति माने 'मैं ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी अंतर सावधानी - ऐसा जानना-समझना। शब्दार्थकी समझ करनेके बजाय भावके अनुभवका अवलोकन करनेमें ज्ञानको गहराईमें ले जाकर समझना चाहिये। (९७)



पूर्णताके लक्ष्यसे शुरुआत करनेवाले - जोरसे आरंभ करनेवाले जीवको चलते हुए प्रगट परिणाममें, ज्ञानक्रियामें, ज्ञानस्वभावका (गुणके गुणका) अवलोकनपूर्वक संशोधन चलने पर, उसमें कषायके अभाव स्वभावका भासन होता है अर्थात् (ज्ञान) 'मैं निराकूल सुखरूप सदाय हूँ' - ऐसा निर्णय होता है; उसमें अपने अनंत ज्ञान व अनंत सुखका प्रतिभास है। जिसके कारण 'ज्ञानमें' स्वरूपकी अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है और लक्ष्य वहाँसे खिसकता नहीं। ऐसे लक्ष्यपूर्वक स्वभावकी महिमा सहित चलता हुआ घोलन तीव्र आत्मरसको उत्पन्न करता है। वहाँ सूक्ष्म विकल्प है, फिर भी उसके पर लक्ष्य नहीं होता - उसकी उपेक्षा रहती है, वहाँ संयोगोंकी उपेक्षा तो सहज ही है। ध्येयभूत स्व-स्वरूपके ऊपर वारंवार 'यही मैं' - ऐसे उपयोगमें - जोरसे अवलंबन आता है। सहज आता है। इस तरह सहज पुरुषार्थ और सहज भेदज्ञानकी यहाँ से शुरुआत होकर वह स्वानुभवमें परिणमित हो जाती है। इस तरह स्वरूपकी सच्ची पहचान होने पर, जगतके पदार्थ व शुभभावकी महिमा (जो कि अनादिसे थी) वह मिटती है। अपूर्व अतीन्द्रिय सुखकी तुलनामें बाह्यभाव - द्रव्य दुःखके कारणरूप - निमित्तरूप लगते हैं - पुण्यका उदय तुच्छ भासित होता है। (९८)



आत्माकी पहचान सम्बन्धित :-

* आत्मा उपयोग लक्षणवन्त है।

लक्षण-लक्ष्य - स्वभावसे सदृश व वस्तुपनेसे अभेद है। उसकी प्रसिद्धि स्वसंवेदनसे है। पहचान होनेपर लक्ष्यकी मुख्यता और लक्षणकी गौणता सहज हो जाती है। लक्ष्यकी मुख्यतामें (प्रमाणके विषयभूत वस्तु) पूरी वस्तु (वैसी की वैसी) टिकती हुई, परिणमन करती हुई दिखती है। अतः द्रव्य, गुण, पर्यायिका आभास / कल्पना नहीं होती। स्वभाव सन्मुखतामें आत्मस्वरूप निरावरण / प्रगट है, ऐसा ज्ञात होता है। 'यह मैं प्रत्यक्ष ऐसा - सिद्ध स्वरूपी हूँ' ऐसे भासनसे, आत्मवीर्यकी स्फुरण हो जाती है। और (जैसे-जैसे) आत्मआश्रयका बल बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान स्वरूपको सुस्पष्टरूपसे ग्रहण करता है, साथ ही साथ आत्माके दूसरे गुण भी खिलने लगते हैं। जितना पुरुषार्थ उग्र - उतनी शुद्धि विशेष - और तेजीसे, ऐसा वस्तुका स्वरूप है। वस्तु स्वरूप महा आश्चर्यकारी, अनुपम व अद्भुत है। (९८-A)



केवलज्ञानमें विस्मयका अभाव है, क्योंकि प्रथम एक समयमें तीन काल - तीन लोक जाननेमें आ जाते हैं। इसलिये किसी भी द्रव्यकी कोई भी पर्यायके बारेमें ऐसा क्यों ? ऐसा विस्मयभाव उत्पन्न नहीं होता। ऐसे केवलज्ञान स्वभावको जिन्होंने वर्तमान श्रद्धा-ज्ञानमें लक्ष्यगोचर किया है, वैसे सम्यक्दृष्टि जीवको भी श्रुतज्ञानमें विस्मयका अभाव होता है। भावश्रुतज्ञानमें भी तीन काल - तीन लोकको परोक्षरूपसे जाननेकी शक्ति है, अतः सम्यक्श्रुत भी स्वभावसे गंभीर व अचंचल है। दूसरे जीवोंकी व पुद्गलोंकी अनेक चित्र-विचित्र अवस्थाएं जानने पर भी क्षोभ नहीं होनेके पीछे इस सिद्धांतका ग्रहण है। (९९)



यह सिद्धांत है कि 'जिसने आत्माको जाना' उसको दूसरे किसी भी आत्माके प्रति वैरबुद्धि नहीं होती; उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी नहीं, क्योंकि सम्यक्ज्ञानमें दूसरे अज्ञानी जीवका सामान्य स्वरूप मुख्य रहता है और उसकी दोषित अवस्था गौणरूपसे जाननेमें आती है। स्वयंके आत्माके जैसा ही सभी आत्माओंका स्वरूप-गुणधाम है। ऐसे ज्ञानमें गुण-सागरके प्रति वैरबुद्धि कैसे हो? (१००)



जिस जीवको संयोगकी प्रतिकूलताका डर-भय है, वह जीव संयोगकी अनुकूलताका इच्छुक है। जिस जीवको अपमान/अपकीर्तिका भय है वह जगतकी आबरू / कीर्तिका कामी है। परमें इष्ट-अनिष्टपनेकी बुद्धिसे-जीव उदयमें

सावधान रहा करता है, और इसलिये उदयभावसे निवृत्त नहीं हो सकता, फिर भी बाहरमें संयोग - वियोग तो पूर्वकर्मके उदय अनुसार है। जिसका कारण पूर्वमें किये हुए जीवके (अपने ही) शुभा-शुभ परिणाम हैं- जो कि परमार्थसे दुःखरूप है। विचारवान जीव तो अपने (शुभाशुभके) नाशका उपाय करता है, वह वास्तविक दीर्घ-दृष्टि है अथवा सत्यदृष्टि है। टुंकी दृष्टिमें जीव, मात्र वर्तमान (उदयको फिरानेकी) प्रवृत्तिमें रत रहता है, इसलिये शाश्वत तत्त्वके प्रति उसका ध्यान नहीं जाता। (१०१)



वर्तमान पर्यायमें विकारीभाव वर्तता होनेके बावजूद भी “मैं वर्तमानमें ही परिपूर्ण शुद्ध हूँ” ऐसी अपूर्व दृष्टि मूल स्वरूपसत्ताका ग्रहण करे-वह स्वरूपदृष्टिका कार्य है। (१०१A)



पर्यायके लक्ष्यसे ‘निर्विकल्प होना है’ ऐसी इच्छासे निर्विकल्प हुआ नहीं जाता, परन्तु ‘मैं स्वभावसे निर्विकल्प ही हूँ और स्वयं स्वसंवेदनरूपसे परिणमन करनेका ही मेरा स्वभाव है। स्वभावसे अन्यथा होना अशक्य है’- ऐसा स्व-आश्रय होने पर कार्य होवे, ऐसी वस्तुस्थिति है। (१०२)



स्वरूपके यथार्थ भावभासनमें, परिणमन पर बहुत गहरी असर होती है । :-
लक्ष्य :- ज्ञानमें स्वरूपका लक्ष्य बंध जाता है - तबसे ज्ञान स्वरूपलक्ष्यी हो जाता है। ज्ञानके लक्ष्यमेंसे स्वरूप छूटता नहीं और परलक्ष मिटता है।

रुचि :- रुचि अनन्यभावसे स्वरूपके प्रति जागृत हो जाती है, जो कि गुणकी रुचि है। विभाव / अवगुणके प्रति अरुचि हो जाती है।

पुरुषार्थ :- चैतन्य वीर्यकी स्फूर्णता होती है - वारंवार स्वरूपका - स्वरूप प्रत्ययी वेग उत्पन्न हो जाता है। पुरुषार्थकी दिशा बदल जाती है जो कि अपूर्व है।

स्वरस :- स्वरूपका अत्यंत रसपूर्वक घोलन रहा करता है और वह बढ़ता रहता है।

महिमा :- असाधारण महिमावंत स्वरूपकी अपूर्व महिमा उत्पन्न होती है और जगतकी महिमा उड़ जाती है। जगतके किसी भी पदार्थकी महिमा नहीं आती-नहीं रहती। स्वरूप सन्मुखताके परिणाम रहा करते हैं। अहो! निज जिनपदसे अधिक दूसरा क्या हो सकता है?

अनंत सुखका भंडार अपनेमें / अंतरमें है, वहाँ वृत्तिका झुकाव हो जाता है।

गुणनिधि स्वरूपका पता लगनेसे अपूर्व...अपूर्व भावोंका प्रवाह / बहाव शुरू होवे ही न!

‘लक्ष्यके कारणसे उत्पन्न ज्ञानमें आनंदके फुहारे छूटते हैं’ - पू. गुरुदेवश्री (परमागमसार - ५१६) (१०३)



अतीन्द्रिय ऐसा आत्मस्वरूप, इन्द्रियज्ञानका विषय नहीं है। किसी भी प्रकारके मंदकषायरूप रागका विषय भी आत्मा बिलकुल नहीं है । आत्मस्वरूप, मनके विकल्प - चिंतनसे भी गम्य नहीं है । परन्तु मात्र अंतर्मुख ज्ञानमें ग्रहण हो सके ऐसा है; अतः केवल अंतर्मुख उपयोग कर्त्तव्य है । विकल्प - रागके सद्भावमें भी विकल्पकी आड़के बिना ज्ञान स्वरूपका - निजका ग्रहण करे वह अंतर्मुखता है, उसमें आत्मा ज्ञानगोचर - वेदनगोचर होता है। (१०४)



‘दंसण मूलो धम्मो’- श्रीमद् भगवान् कुंदकुंदाचार्यका यह गंभीर वचनमृत - सूत्र सिद्धांतरूप है। दर्शन अर्थात् श्रद्धान। आत्माके सभी अनंतगुणोंमें यह सूत्र श्रद्धा गुणकी विशिष्टता का दर्शक है। उसमें बहुत गंभीरता है। वास्तविकरूपसे ‘दर्शन’ प्राप्त - अनुभवी महात्मा (ही) उसका यथातथ्य अनुभव करते हैं - क्योंकि उसमें वचन

अगोचर बहुत कुछ है। जिस दर्शन शक्तिसे मोक्षमार्गका अंकुर फूटता है; सर्व गुणांश स्वयं सम्यक् होते हैं, जिसका इस प्रकारसे मूलअंगरूपमें परिणमन करने पर - वर्तन करने पर मोक्षमार्ग वृद्धिगत होकर संपूर्ण शुद्धतारूप मोक्ष अनिवार्यरूपसे अवश्य होता ही है; जिसके कारण सिद्ध भगवंत सिद्ध पर्यायमें अनंतकाल टिकते हैं। ऐसा दंसण - मूल धर्म / कल्याणमूर्तिका सम्यक् प्रकारसे सेवन करने योग्य है। यह एक गुण ऐसा है कि जो शुरूसे अपनी पूरी-अनंत शक्तिसे परिणमन करता है। और अन्य समस्त गुणोंकी निर्मलता होनेमें / बढ़नेमें निमित्त होता है। (१०५)



आत्मानुभवी पुरुषोंके द्वारा प्रवाहित हुए वचन अर्थात् सत्शास्त्रों अनुभवरससे लिखे गये होनेसे उसमें अनुभवकी गहराई होती है। उन वचनोंका अनुभवके दृष्टिकोणको मुख्य रखते हुए अवगाहन करने योग्य है; वरना उनके भाव-वाच्य ज्ञानगोचर नहीं हो सकते। अनुभवके दृष्टिकोणको लागू करनेसे भाव भासित होता है। शास्त्रवाचनकी रीत भी गहरी व रहस्ययुक्त है। परलक्ष्यी उघाड़वाला स्थूल ज्ञान, इसीलिये शास्त्रके मर्म तक नहीं पहुँच पाता है। पुनः परलक्ष्यी उघाड़में पंडिताई-विद्वताके साथ अभिमान, स्वच्छंद इत्यादि दोष सहज जन्म लेते हैं। इसलिये भी उससे गुण नहीं होता। आत्मार्थीका शब्दार्थ - भावार्थसे संतुष्ट होना नहीं बनता, बल्कि वह तो अनुभवकी कलाके लिये अत्यंत जिज्ञासु रहता है। (१०६)



नवम्बर - १९८५

बोधकला :- निज शुद्ध जीवास्तिकायमें अहंबुद्धि होना, अभेदभावसे लक्ष्य रहा करना। इस प्रकारसे परिणाम बलवान होने पर उपयोग शुद्ध होता है। (१०७)



प्रश्न :- ज्ञानीकी पहचान किसको होती है ?

उत्तर :- ज्ञानी, ज्ञानीको पहचान सकते हैं। अपने अनुभवसे, जिनकी वाणीमें अनुभवरस व्यक्त होता है; (एवं) दृष्टि, पुरुषार्थ, इत्यादि प्रकारसे भी साधकदशाकी पहचान होती है। ज्ञानीको अनेकविध अध्यात्मभावोंको पहचाननेकी निर्मलता होनेसे वे अन्य ज्ञानीको पहचान लेते हैं। सम्यक् श्रुतज्ञानमें बहुत सामर्थ्य है। इसके अलावा - “मुमुक्षुके नेत्र महात्माको पहचान लेते हैं” - (श्रीमद् राजचंद्रजी)। इस वचनके अनुसार पात्र जीवको भी ज्ञानीकी दशाकी अंतर प्रतीति अवश्य आ सकती है। जैसे मरीज अपने रोगके निदान, इत्यादिके आधारसे वैद्यके ज्ञानको समझ सकता है वैसे मुमुक्षुजीव, (भवरोगके निदानादि ज्ञानके प्रकारसे) मार्गका खोजी जीव, मार्ग दिखलानेवालेके अनुभव ज्ञानकी सत्यताका निर्णय करके पहचान सकता है, निःशंक हो सकता है। (१०८)



आत्मभावना :- सर्वोत्कृष्ट, परमशांतरसमय, समरस स्वभावी, अनंत सुखधाम, केवल अंतर्मुख, स्वयं अभेद अनुभवरूप हूँ। (अतः समस्त परमें उपेक्षा सहज है।) (१०९)



‘तू रुचता जगतनी रुचि आळसे सौ।’ जगतके समस्त पर पदार्थके प्रतिका आकर्षण छूट जाये व एकमात्र स्व स्वरूपका ही खिँचाव रहा करे, ऐसा परम अद्भुत, आश्चर्यकारी, अनंत महिमावंत आत्मस्वरूप है। अरे! पूर्ण केवलज्ञानादि पर्यायकी भी जिसे अपेक्षा नहीं, ऐसा परम निरपेक्ष आत्मस्वरूप है। ऐसे निज स्वरूपकी एकाकार भावनावानको भी अन्य कोई अपेक्षा नहीं रहती है। ऐसे निज स्वरूपकी दृष्टिके बिना, अन्य द्रव्य-भावमें मुख्यता होती है-स्वरूपदृष्टिमें तो स्वयं ‘स्वरूपमात्र’-‘ज्ञायकमात्र’ के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। (११०)

(शेष अंश पृष्ठ संख्या-४ पर)



द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से आत्मा कैसे प्राप्त हो उस विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनमृत

वेदनासमुद्घात में जीव के प्रदेश शरीर से बाहर निकल जाते हैं। और शरीर के बाहर वेदन आता है; तो कोई जीव, इस पर से भी शरीर से (आत्मा के) भिन्नपने के विचार में उतरकर काम कर सकता है। ५६८.



प्रश्न :- शास्त्र में आत्मा को भेदाभेद स्वरूप कहा है; और आप तो आत्मा को अभेद कहते हो; इसमें आपका क्या प्रयोजन है ?

उत्तर :- प्रमाणज्ञान की अपेक्षा से आत्मा को भेदाभेदस्वरूप कहने में आता है। लेकिन वास्तव में सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा तो अभेद ही है, क्योंकि सम्यग्दर्शन का विषय भेद नहीं है। इसलिए भेदाभेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती, मात्र अभेद के लक्ष्य से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, यही आशय है। ५८१.



मार्गदर्शन :-

प्रश्न :- अनुभव होनेके बाद परिणाम में मर्यादा आ जाती है न? विवेक हो जाता है न?

उत्तर :- विवेक की बात एकबाजू रखो; एकदफ़ा विवेक को छोड़ दो! (- पर्याय की सावधानी छोड़ दो!) परिणाम मात्र ही 'मैं' नहीं; 'मैं' तो अविचलित खूँटा हूँ; मेरे में क्षणिक अस्तित्व है ही नहीं। विवेक के बहाने भी जीव परिणाम में एकत्व करते हैं। ६८.



विचार-मंथन भी थक जायें, शून्य हो जायें; तब अनुभव होता है। मंथन भी तो आकुलता है। एकदम तीव्र धगश से (जोर से) अन्दर में उतर जाना चाहिए। ७२.



बस, एक ही बात है कि 'मैं त्रिकाली हूँ' - ऐसे जमे रहना चाहिए। पर्याय होनेवाली हो सो योग्यतानुसार हो जाती है, 'मैं' उसमें नहीं जाता। क्षयोपशम हो, न हो; याद रहे, न रहे; परंतु असंख्य प्रदेश में, प्रदेश-प्रदेश में व्यापक हो जाना चाहिए। ८१.



'कुछ करे नहीं तो गमे नहीं' ऐसी आदत (कर्ताबुद्धि) हो गयी है। लेकिन 'कुछ करे तो गमे नहीं' ऐसा होना चाहिए। ८४



जहाँ तक अंदर में (आत्मा में) डुबकी नहीं मारता, वहाँ तक प्रयत्न चालू रखना चाहिए। ८६.



असल में बात तो यह है कि सुनने में जो महात्म्य आता है- वह नहीं, किन्तु अन्दर से सहजरूप से (स्व का) महात्म्य आना चाहिए। (बाहर में) तीव्र थकावट हो तो महात्म्य अन्दर से ही आता है। १०२.

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- उपदेशमें आता है कि अपने छोटेसे अवगुणको पर्वत समान गिनना, और दूसरोंके छोटेसे गुणको महान देखना तथा ऐसा भी आता है कि पर्यायकी परमात्माको गौण करके, अपनेको परमात्म स्वरूप देखना। ऐसे दोनों कथनका तात्पर्य क्या है?

समाधान :- चैतन्य द्रव्य जो कि अखंड परिपूर्ण और शाश्वत है; उसकी दृष्टि करनी; तथा पर्यायमें अपूर्णता है, उसका ज्ञान करना। साधक दशामें दृष्टि और ज्ञान साथ होते हैं। द्रव्यदृष्टिसे मैं पूर्ण हूँ, अनादि-अनन्त परिपूर्ण प्रभुता स्वरूप हूँ-इस प्रकार प्रभुतास्वरूप आत्माको लक्ष्यमें रखकर, मैं पर्यायमें अपूर्ण हूँ, ऐसा अपूर्णताका ज्ञान साधकको रहता है। पर्यायमें पुरुषार्थ कैसे हो? स्वरूपमें लीनता कैसे हो? स्वानुभूतिकी विशेष-विशेष दशा कैसे हो? अंतरमें ज्ञायककी विशेष परिणति कैसे हो? तदर्थ मैं पर्यायमें पुरुषार्थ करूँ। पर्यायमें मैं पामर हूँ स्तुस्वभावसे मैं पूर्ण हूँ।-इस प्रकार साधकदशामें दृष्टि और ज्ञान साथ ही रहते हैं। मैं दृष्टिसे पूर्ण और पर्यायसे अपूर्ण हूँ। ये दोनों साथ होते हैं।

दूसरोंके गुण देखना वह अपने लिये लाभका कारण है और दूसरोंके दोष देखना वह हानिकारक है। इसलिये दूसरोंके गुणको मुख्य करके, उनके दोषको गौण करता है। अपनेको पुरुषार्थ करना है इसलिये अपने अल्प दोषपर भी नजर है तथा मुझे पुरुषार्थ करना बहुत बाकी है, ऐसा वह जानता है। स्वयं अपने दोषको लक्ष्यमें रखकर गुणको गौण करता है। दूसरोंके दोष देखनेमें अटकना, वह साधकका कर्तव्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र परिणमित होती है। ज्ञायकका ज्ञाता स्वभाव है, इसलिये ज्ञातारूपसे जानते रहना। अपनी साधकदशामें, अपने गुणको गौण करके, जो दोष अपूर्णता-हो उसे मुख्य करके, मुझे अभी बहुत करना बाकी है, ऐसा स्वयं देखता है, वैसा पुरुषार्थ करता है। वह दूसरेके गुणको मुख्य करके, उसके दोषको गौण करता है, क्योंकि दूसरेके दोषसे उसका कोई प्रयोजन नहीं है, और स्वयं अपनेमें आगे बढ़नेके लिये उसके गुणको ग्रहण

करता है। स्वयं स्वभावपर दृष्टि रखकर, मैं स्वभावसे पूर्ण हूँ, ऐसा स्वीकार करके अपने दोष तथा दूसरोंके गुण ग्रहण करता है। जैसे तो स्वयंमें कितनी ही अल्पता है, उस अल्पतापर लक्ष्य देकर पुरुषार्थ कैसे हो? वीतराग कैसे होऊँ? मेरी साधकदशा कैसे



आगे बढे? ऐसी भावना उसे रहती है; इसलिये अपने गुणोंको गौण करके अपने दोषोंको देखता है। आत्मार्थियोंको भी यही प्रयोजन रखना चाहिये। दूसरोंके गुणोंका ग्रहण करना, किन्तु दोषोंको नहीं। दूसरोंके दोषोंको गौण, तथा गुणोंको मुख्य करके ग्रहण करे। अपनी भूल कहाँ हो रही है, स्वयं कहाँ अटक रहा है, ऐसे अपने दोषोंको देखते हुए पुरुषार्थको आगे बढ़ाए। स्वयं स्वभावसे पूर्ण है, उसका खयाल रखे, और स्वयंको अभी बहुत पुरुषार्थ करना बाकी है, ऐसी खटक रखे।

मुनि भी वीतराग कैसे होऊँ, ऐसी भावनापूर्वक पंचपरमेष्ठीके गुणोंपर दृष्टि रखकर आगे बढ़ते हैं। साधक मुनिराज भी जो साधना करके पूर्ण हुए उनकी भक्ति करके, तथा अपने पुरुषार्थकी डोर शुद्धात्मासे बाँधकर आगे बढ़ते हैं। अतः एक शुद्धात्मामें प्रवेश करना ही मुख्य कर्तव्य है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम तुझे आगे बढ़नेको कहते हैं, तीसरी भूमिकामें जानेको कहते हैं। अशुभमें जानेको नहीं कहते, किन्तु तीसरी भूमिका कहकर आगे बढ़नेको कहते हैं। तीसरी भूमिकामें-निर्विकल्पदशामें-स्थिर नहीं हुआ जाता है और उपयोग बाहर आये तो शुभभाव-पंचपरमेष्ठी भगवंतोंकी भक्ति, गुण ग्राहकता वह सब आता है, और अपने दोषोंकी ओर दृष्टि (लक्ष्य) जाती है, जिससे अपने पुरुषार्थकी डोर बढ़ाकर आगे जाते हैं। द्रव्यसे पूर्ण होनेपर भी पर्यायमें अपूर्णता है, ऐसा उन्हे खयाल रहता है; इसलिये पुरुषार्थकी गतिको विशेष लीनताकी ओर जोड़ते हैं, और आनंदानुभूति एवं चारित्रकी दशामें विशेष वृद्धि करते हैं।

(स्वानुभूतिदर्शन-३३४)



‘चित्तकी दशा चैतन्यमय रहा करती है; जिससे व्यवहारके सभी कार्य प्रायः अव्यवस्थासे करते हैं। हरीच्छाको सुखदायक मानते हैं। इसलिये जो उपाधियोग विद्यमान है, उसे भी समाधियोग मानते हैं। चित्तकी अव्यवस्था के कारण मुहूर्त मात्रमें किये जा सकनेवाले कार्यका विचार करनेमें भी पखवारा बिता दिया जाता है और कभी उसे किये बिना ही जाने देना होता है। सभी प्रसंगोंमें ऐसा हो तो भी हानि नहीं मानी है; तथापि आपसे

कुच कुछ ज्ञानवार्ता की जाये तो विशेष आनंद रहता है; और उस प्रसंगमें चित्तको कुछ व्यवस्थित करनेकी इच्छा रहा करती है, फिर भी उस स्थितिमें भी अभी प्रवेश नहीं किया जा सकता। ऐसी चित्तकी दशा निरंकुश हो रही है, और उस निरंकुशताके प्राप्त होनेमें हरिका परम अनुग्रह कारण है ऐसा मानते हैं। इसी निरंकुशताकी पूर्णता किये बिना चित्त यथोचित समाधियुक्त नहीं होगा ऐसा लगता है।’

इस पत्रमें, सम्यक् मोक्षमार्गमें प्रवेश होनेके पश्चात् छः - सात मासके अल्प समयमें ही चित्तकी दशा चैतन्यमयरूप कितनी तारतम्यतापूर्वक चल रही है, उसका चितार प्रदर्शित हुआ है। उग्र चैतन्यमयताके कारण बाह्य कार्य अव्यवस्थित हो गये हैं, फिर भी संयोगोका ममत्व या स्वामित्व नहीं होनेसे इसकी चिंता नहीं होती, परन्तु समाधान रहता है कि कुदरतके क्रममें जो होने योग्य होगा, वही होगा, इसीलिए उपाधियोगने भी समाधियोगका स्थान लिया है, अतः उपाधिका दुःख गौण है। स्वरूपमय परिणतिके कारण बाह्य कार्योंकी सावधानी छूट जानेसे सामान्य कार्य कि जो अल्प समयमें कर सकते हो, उन कार्योंमें भी बहुतसे दिन लग जाते हैं अथवा उदासीनता वृद्धिगत होनेसे अनेक कार्योंको तो छोड़ देना पड़ता है।

यद्यपि परम सखा श्री सौभाग्यभाईके साथ ज्ञानवार्तामें विशेष आनंद रहता है (उपाधि नहीं लगती), तथापि वर्तमानदशा विशेष आत्मामय होनेसे ज्ञानवार्ताकी इच्छा कार्यगत नहीं हो, ऐसी चित्तकी दशा निरंकुश हो गई है। इस दशाविशेषको कृपालुदेव स्वयं निज परमात्माका अनुग्रह गिनते हैं और ऐसी पूर्ण निरंकुशता प्राप्त होने पर ही पूर्ण तृप्ति होगी ऐसा समझते हैं।

‘हमारे चित्तकी अव्यवस्था ऐसी हो जानेके कारण किसी काममें जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं रहता, स्मृति नहीं रहती, अथवा खबर भी नहीं रहती, इसके लिये क्या करना? क्या करना अर्थात् व्यवहारमें रते हुए भी ऐसी सर्वोत्तम दशा दूसरे किसीको दुःखरूप नहीं होनी चाहिये, और हमारे आचार ऐसे हैं कि कभी वैसा हो जाता है। दूसरे किसीको भी आनंदरूप लगनेमें हरिको चिंता रहती है, इसीलिये वे रखेंगे। हमारा काम तो उस दशाकी पूर्णता करनेका है, ऐसा मानते हैं; तथा दूसरे किसीको संतापरूप होनेका तो स्वप्नमें भी विचार नहीं है। सभीके दास हैं, तो फिर दुःखरूप कौन मानेगा?... परमानंदरूप हरिको क्षण भर भी न भूलना, यह हमारी सर्व कृति, वृत्ति और लिखनेका हेतु है।’

परम कृपालुदेवके चित्तकी दशा विशेषरूपसे चैतन्यमय हो जानसे बाह्य कार्यमें सहजरूपसे उपयोग नहीं लगता होनेसे, तद्उपरांत विस्मृति हो जाती है इस कारणसे दूसरे किसीको दुःखरूप नहीं हो जाये तो अच्छा ऐसी चाहना सम्बन्धमें आये हुए जीवके प्रति रहती है; तथापि दूसरेको अच्छा लगानेका उसमें लक्ष्य नहीं है। वह कार्य कुदरतका है। खुदका काम तो दशाकी पूर्णता प्राप्त करनेका है, अतः ऐसा करते हुए दूसरे किसीको जाने-अनजानेमें भी हमारेसे संताप होवे तो विनम्रतासे उनके प्रति दासत्व प्रगट करके, किसीको दुःख न लगे, उसप्रकार समाधान किया है; फिर भी दूसरे जीवोंके परिणाम सम्बन्धी स्वयंकी निरुपायता है, इस स्थितिमें विशेष चिंता नहीं करके सब कुदरत आधीन छोड़कर स्वरूपकी सावधानीमें रहनेका अभिप्राय है और एक क्षण भी निज परमानंदस्वरूप हरिका विस्मरण नहीं करना-इसी आशयसे सर्व पुरुषार्थ/प्रवृत्ति हो रही है। यहाँ उनकी दशामें निर्दोषता और पवित्रताके दर्शन होते हैं।

